ISSN 2277-5897 SABLOG
PEER REVIEWED JOURNAL

146

लोक चेतना का राष्ट्रीय मासिक

सबलोग

अप्रैल 2026 • ₹ 50

सामाजिक न्याय का वर्तमान

- युद्ध की विभीषिका और साहित्य
- कृत्रिम बुद्धिमत्ता और वैश्विक सत्ता
- हॉर्मुज की घेराबन्दी और गैस संकट

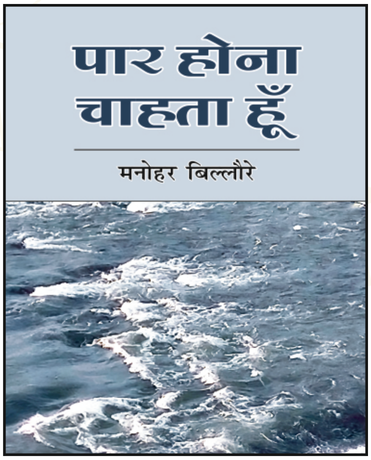

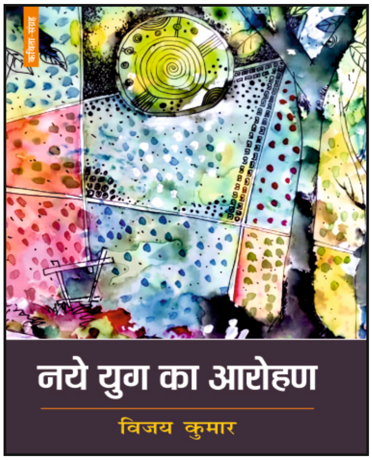

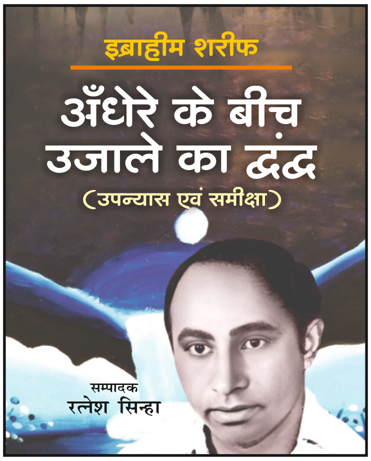

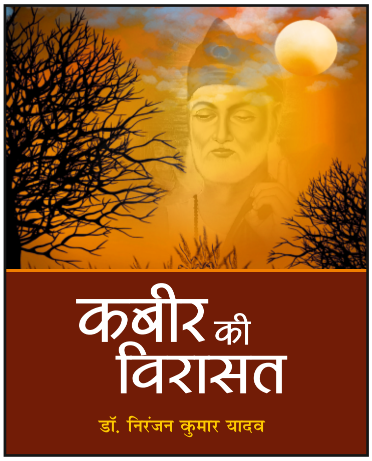

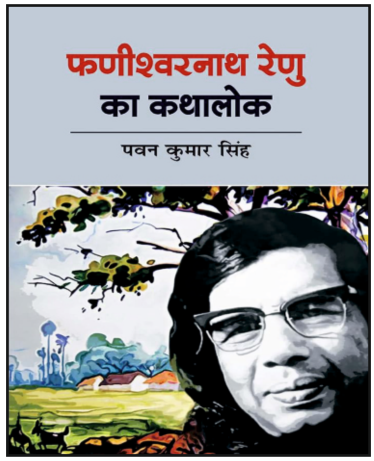

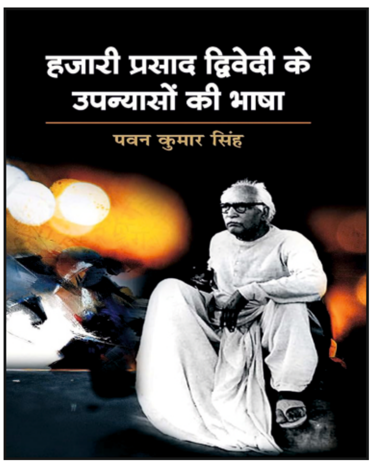

Available at : amazon.in

रचनाकार पब्लिशिंग हाउस

D-18, Gali No.9, Jagatpuri Extn., Delhi
9910143493
Rachnakarpublishing House
rachnakarpublishinghouse@gmail.com
rachnakar publishing house

सबलोग-146

वर्ष 17, अंक 4, अप्रैल 2026

ISSN 2277-5897 SABLOG

PEER REVIEWED JOURNAL

www.sablog.in

सम्पादक

किशन कालजयी

संयुक्त सम्पादक

प्रकाश देवकुलिश

राजन अग्रवाल

उप-सम्पादक

गुलशन चौधरी

समीक्षा समिति

(Peer Review Committee)

आनन्द कुमार

रत्नेश्वर मिश्र

मणीन्द्र नाथ ठाकुर

मंजु रानी सिंह

सफदर इमाम कादरी

प्रमोद मीणा

राजेन्द्र रवि

मधुरेश

महादेव टोप्पो

विजय कुमार

आशा

सन्तोष कुमार शुक्ल

अखलाक 'आहन'

अभय सागर मिंज

सम्पादकीय सम्पर्क

बी-3/44, तीसरा तल, सेक्टर-16,

रोहिणी, दिल्ली-110089

+918340436365

sablogmonthly@gmail.com

सदस्यता शुल्क

एक अंक : 50 रुपये

वार्षिक : 1100 रुपये रजिस्टर्ड डाक से

सबलोग

खाता संख्या-49480200000045

बैंक ऑफ बड़ौदा,

शाखा-बादली, दिल्ली

IFSC-BARB0TRDBAD

(Fifth Character is Zero)

स्वामी, सम्पादक, प्रकाशक व मुद्रक किशन कालजयी द्वारा बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089 से प्रकाशित और लक्ष्मी प्रिण्टर्स, 556 जी.टी. रोड शाहदरा दिल्ली-110032 से मुद्रित।

पत्रिका में प्रकाशित आलेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं, उनसे सम्पादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

पत्रिका अव्यावसायिक और सभी पद अवैतनिक।

पत्रिका से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिए न्यायक्षेत्र दिल्ली।

संवेद फाउण्डेशन का मासिक प्रकाशन

सामाजिक न्याय का वर्तमान

मुनादी / सामाजिक न्याय : विरासत, विचलन और पुनर्विचार : **किशन कालजयी 4**

आत्मन्याय की तलाश : **विनोद शाही 6**

सामाजिक न्याय अब भी एक सम्भावना है : **प्रियदर्शन 8**

शिक्षा-नीति और सामाजिक विभेद : **अनिल कुमार राय 11**

शिक्षा और सामाजिक न्याय : **रामनरेश राम 14**

समावेशी शिक्षा का स्वप्न और यथार्थ : **सुशील उपाध्याय 16**

ट्रांसजेण्डर शिक्षा का परिदृश्य : **शुभ्रा पंत कोठारी 18**

सामाजिक न्याय, अम्बेडकर और लोहिया : **आलोक टण्डन 20**

संविधान और सामाजिक न्याय : **तालीम अख्तर 23**

सृजनलोक

पाँच कविताएँ : **अभिनव अरुण,** टिप्पणी : **अच्युतानन्द मिश्र**

रेखांकन : **आस्था 25**

देश

झारखण्ड / जमीन की ऑडिट से घबराती सरकार : **सुधीर पाल 27**

हरियाणा / जाति-आधारित राजनीति की ओर : **अजय सिंह 29**

बिहार / कोसी की आपदा और जीवटता : **राहुल यादुका 31**

स्तम्भ

चतुर्दिक / ईरान, इजरायल, अमेरिका और भारत : **रविभूषण 33**

तीसरी घण्टी / जाति का प्रश्न और रंगमंच : **राजेश कुमार 37**

यत्र-तत्र / युद्ध की विभीषिका और साहित्य : **जय प्रकाश 40**

देशान्तर / कृत्रिम बुद्धिमत्ता और वैश्विक सत्ता : **धीरंजन मालवे 43**

विविध

प्रासंगिक / लोकतान्त्रिक सहभागिता और डिजिटल तकनीक : **सुमित पाठक 46**

स्त्रीकाल / कन्यादान की परम्परा और समानता का पुनर्विचार : **आकांक्षा 49**

सामयिक / हॉर्मुज की घेराबन्दी और गैस संकट : **महेन्द्र तिवारी 52**

सिनेमा / दर्शक और समाज का सच : **रक्षा गीता 54**

किताब / सत्ता के खिलाफ मनुष्य की स्वतन्त्रता : **अरविन्द कुमार 57**

लिये लुकाठी हाथ / वे धृतराष्ट्र न होते तो : **श्रीकांत आप्टे 58**

रंगसाज / रेखाओं में स्त्री के अनकहे स्वप्न : **शेखर 59**

आवरण : शशिकान्त सिंह

अक्षर संयोजनः आशीष कुमार पाठक

अगला अंक : युद्ध की दुनिया और शान्ति का स्वप्न

सामाजिक न्याय : विरासत, विचलन और पुनर्विचार

लोकतन्त्र की संरचना केवल संवैधानिक प्रावधानों या संस्थागत व्यवस्थाओं का परिणाम नहीं है, बल्कि यह एक दीर्घ ऐतिहासिक संघर्ष, सामाजिक जागरण और नैतिक आकांक्षाओं की परिणति भी है। यह संघर्ष केवल औपनिवेशिक सत्ता से मुक्ति तक सीमित नहीं था, बल्कि उस आन्तरिक सामाजिक संरचना को बदलने का भी प्रयास था, जिसने सदियों से असमानता, वर्चस्व और वंचना को संस्थागत रूप दिया। इसलिए जब हम सामाजिक न्याय की बात करते हैं, तो वह केवल एक नीतिगत अवधारणा नहीं रहती, बल्कि भारतीय लोकतन्त्र की आत्मा को समझने का एक अनिवार्य माध्यम बन जाती है। यह प्रश्न हमें बार-बार अपनी ऐतिहासिक स्मृति की ओर लौटने और यह परखने के लिए प्रेरित करता है कि क्या हमने अपने सामाजिक ढाँचे में निहित असमानताओं को वास्तव में चुनौती दी है, या उन्हें केवल नये रूपों में पुनर्स्थापित कर दिया है।

भारतीय लोकतन्त्र की सबसे बड़ी कसौटी केवल चुनावों की नियमितता या सत्ता-परिवर्तन की प्रक्रिया नहीं, बल्कि यह है कि वह अपने सबसे कमजोर और हाशिये पर खड़े नागरिक के साथ कैसा व्यवहार करता है। विकास, राष्ट्रवाद और प्रगति के बड़े आख्यानों के बीच यदि समाज का एक बड़ा हिस्सा अब भी विषमता, अपमान और वंचित जीवन-स्थितियों में घिरा है, तो यह प्रश्न अनिवार्य हो उठता है कि हमारी लोकतान्त्रिक परियोजना की दिशा और प्राथमिकताएँ क्या हैं। सामाजिक न्याय का प्रश्न इसी बुनियादी असन्तुलन की ओर हमारा ध्यान खींचता है—और हमें यह सोचने के लिए बाध्य करता है कि क्या हम सचमुच एक न्यायपूर्ण समाज की ओर बढ़ रहे हैं, या केवल उसके प्रतीकों से सन्तोष कर रहे हैं।

सामाजिक न्याय का प्रश्न भारतीय बौद्धिक और सांस्कृतिक परम्परा में नया नहीं है; इसकी जड़ें इतिहास की गहराइयों में, विशेषकर भक्ति आन्दोलन की वैचारिक धारा में स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। सन्त-परम्परा के कवि—कबीर और तुलसीदास—ने अपने-अपने ढंग से उस समय के सामाजिक ढाँचे में व्याप्त अन्याय को चुनौती दी। आधुनिक भारत में यही परम्परा महात्मा गाँधी, भीमराव अम्बेडकर, राम मनोहर लोहिया और जयप्रकाश नारायण जैसे विचारकों के माध्यम से एक संगठित, वैचारिक और संवैधानिक रूप ग्रहण करती है। इस निरन्तरता में सामाजिक न्याय की भारतीय अवधारणा बहुआयामी, संघर्षशील और जीवन्त रूप में सामने आती है।

कबीर का स्वर प्रत्यक्ष, विद्रोही और प्रहारात्मक है। वे जाति, पाखण्ड और धार्मिक आडम्बरों पर सीधा आघात करते हैं। उनके लिए सामाजिक न्याय का अर्थ है—मानव मात्र की समानता और आन्तरिक शुद्धता। 'जाति न पूछो साधु की' जैसे कथन उस समय की कठोर जाति-व्यवस्था के विरुद्ध एक क्रान्तिकारी उद्घोष थे। कबीर ने ब्राह्मणवादी श्रेष्ठता और मौलवीवाद, दोनों को अस्वीकार करते हुए ऐसे समाज की कल्पना की जिसमें व्यक्ति की पहचान उसके कर्म और ज्ञान से हो, न कि जन्म से। उनके यहाँ सामाजिक न्याय का आधार आध्यात्मिक लोकतन्त्र है—जहाँ हर व्यक्ति को ईश्वर तक पहुँचने का समान अधिकार है। इस दृष्टि से वे आधुनिक समानता-बोध के अग्रदूत प्रतीत होते हैं।

इसके विपरीत तुलसीदास का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत समन्वयकारी और मर्यादापरक है। 'रामचरितमानस' में 'रामराज्य' की जो परिकल्पना मिलती है, वह एक आदर्श सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत करती है, जहाँ न्याय, सुरक्षा और कल्याण सबके लिए सुनिश्चित हैं। यद्यपि वे वर्ण-व्यवस्था को पूरी तरह अस्वीकार नहीं करते, फिर भी उनके आदर्श समाज में शासक की जवाबदेही, न्याय की सार्वभौमिकता और प्रजा के हितों की रक्षा को प्राथमिकता दी गयी है। तुलसी का यह दृष्टिकोण सामाजिक परिवर्तन के भीतर से सुधार की सम्भावना को रेखांकित करता है।

आधुनिक युग में महात्मा गाँधी ने सामाजिक न्याय को नैतिकता, अहिंसा और आत्मशुद्धि से जोड़ा। उनके लिए 'सर्वोदय'—सभी का उदय—इस विचार का मूल था। वे अस्पृश्यता के घोर विरोधी थे और 'हरिजन' शब्द के माध्यम से दलितों को सम्मान देने का प्रयास किया। गाँधी की दृष्टि में परिवर्तन का मार्ग हृदय-परिवर्तन से होकर गुजरता है। उनका 'ट्रस्टीशिप' सिद्धान्त आर्थिक असमानता को कम करने का नैतिक उपाय प्रस्तुत करता है, जहाँ सम्पन्न वर्ग समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी को समझे। इस प्रकार गाँधी का दृष्टिकोण तुलसी की समन्वयकारी परम्परा के निकट दिखाई देता है, किन्तु उसमें आधुनिक राजनीतिक चेतना भी अन्तर्निहित है।

भीमराव अम्बेडकर का दृष्टिकोण अधिक संरचनात्मक और क्रान्तिकारी है। उन्होंने सामाजिक न्याय को केवल नैतिक अपील या आध्यात्मिक समानता तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे कानूनी, राजनीतिक और संस्थागत आधार दिया। अम्बेडकर ने स्पष्ट कहा कि जाति-व्यवस्था सामाजिक अन्याय की जड़ है और इसके रहते समानता सम्भव नहीं। उन्होंने संविधान के माध्यम से समान अधिकार, आरक्षण और सामाजिक सुरक्षा जैसे उपायों को सुनिश्चित किया। उनका यह आह्वान—'शिक्षित बनो, संगठित हो, संघर्ष करो'—सामाजिक न्याय को एक सक्रिय राजनीतिक परियोजना में रूपान्तरित करता है। इस दृष्टि से वे कबीर की विद्रोही परम्परा के आधुनिक बौद्धिक प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं।

राम मनोहर लोहिया ने सामाजिक न्याय को और व्यापक आयाम दिया। उन्होंने केवल जाति ही नहीं, बल्कि वर्ग, लिंग, भाषा और क्षेत्रीय असमानताओं को भी अन्याय के स्रोत के रूप में चिह्नित किया। उनका 'सप्त क्रान्ति' का विचार—जिसमें स्त्री-पुरुष समानता, रंगभेद का विरोध, जाति-उन्मूलन और आर्थिक समानता शामिल हैं—इसे एक व्यापक सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन के रूप में प्रस्तुत करता है। लोहिया का जोर 'पिछड़ों को विशेष अवसर' देने पर था, जो आज के आरक्षण विमर्श में भी केन्द्रीय है।

जयप्रकाश नारायण ने सामाजिक न्याय को नैतिकता, जनभागीदारी और लोकतान्त्रिक जवाबदेही से जोड़ा। 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के माध्यम से उन्होंने भ्रष्टाचार, असमानता और सत्ता के खिलाफ जनचेतना जगायी, तथा राजनीति को समाज-परिवर्तन का साधन बनाते हुए न्यायपूर्ण और सहभागी लोकतन्त्र की दिशा में महत्त्वपूर्ण हस्तक्षेप किया।

इस प्रकार, कबीर, तुलसी, गाँधी, अम्बेडकर, लोहिया और जयप्रकाश—ये सभी सामाजिक न्याय की एक लम्बी और समृद्ध परम्परा के विभिन्न पड़ाव हैं। ये परम्पराएँ प्रतिरोध, समन्वय, नैतिकता, संवैधानिकता और संरचनात्मक परिवर्तन—इन सभी आयामों को एक साथ सामने लाती हैं।

इन ऐतिहासिक दृष्टियों के आलोक में जब हम वर्तमान की ओर देखते हैं, तो यह प्रश्न और अधिक जटिल हो उठता है। आज का समय संक्रमण का समय है—जहाँ एक ओर लोकतान्त्रिक संस्थाएँ हैं, तो दूसरी ओर सामाजिक यथार्थ में गहरी पैठी हुई विषमता और अवसरों की असमान उपलब्धता भी मौजूद है। सामाजिक न्याय अब केवल एक नैतिक आग्रह नहीं, बल्कि एक ठोस राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रश्न बन चुका है।

संविधान की आत्मा में सामाजिक न्याय केवल नीति-निर्देशक तत्त्व नहीं, बल्कि लोकतन्त्र का प्राण है। किन्तु व्यवहार में इसके क्रियान्वयन को लेकर अनेक प्रश्न उठते हैं। संसद से लेकर न्यायपालिका तक, और विश्वविद्यालयों से लेकर कॉरपोरेट क्षेत्र तक—संस्थागत संरचनाओं में विविधता और समावेश का अभाव यह संकेत करता है कि प्रतिनिधित्व का प्रश्न अभी अधूरा है।

यद्यपि देश संवैधानिक रूप से समानता के सिद्धान्त पर आधारित है, वास्तविक जीवन में अवसरों की असमान उपलब्धता और संसाधनों तक सीमित पहुँच स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। जब निर्णय-प्रक्रियाओं में विविध सामाजिक अनुभवों की भागीदारी नहीं होती, तो नीतियाँ भी समाज के व्यापक हिस्से से कट जाती हैं।

यहीं से सामाजिक न्याय की राजनीति का संकट स्पष्ट होता है। बाद के दशकों में जब यह विचार राजनीतिक व्यवहार में रूपान्तरित हुआ, तो कई बार इसकी व्यापक वैचारिकता सिमटकर जातीय गोलबन्दी की रणनीति तक सीमित हो गयी। लालू प्रसाद यादव, मुलायम सिंह यादव और करुणानिधि जैसे नेताओं ने वंचित समुदायों को आवाज और सत्ता में हिस्सेदारी दिलाने का ऐतिहासिक कार्य किया—यह उनके योगदान का निर्विवाद पक्ष है। किन्तु इसी प्रक्रिया में सामाजिक न्याय का विमर्श कई बार व्यापक सामाजिक रूपान्तरण के बजाय सीमित जातीय समीकरणों में सिमटता गया।

विशेषतः यह विडम्बना तब और स्पष्ट होती है जब हम देखते हैं कि लोहिया और जयप्रकाश नारायण की वैचारिक परम्परा से उपजे नेतृत्व में भी यह दोष दिखाई देता है। इससे यह प्रश्न उठता है कि क्या सामाजिक न्याय का आन्दोलन अपनी वैचारिक ऊँचाइयों से नीचे उतरकर केवल सत्ता-समीकरणों का उपकरण बनता गया? यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि जातीय गोलबन्दी ने अल्पकालिक राजनीतिक लाभ तो दिये, पर दीर्घकाल में इसकी समावेशी धार को कुन्द भी किया।

परिणामस्वरूप, जहाँ एक ओर प्रतिनिधित्व के नये द्वार खुले, वहीं दूसरी ओर नीतिगत गहराई और दीर्घकालिक सामाजिक परिवर्तन का एजेंडा कमजोर पड़ा। कई राज्यों में सत्ता-परिवर्तन तो हुआ, पर शिक्षा, स्वास्थ्य, भूमि-सुधार और संस्थागत सुधार जैसे बुनियादी प्रश्न पीछे छूटते गये।

आज आवश्यकता है कि सामाजिक न्याय को पुनः उसके मूल धरातल पर स्थापित किया जाय—जहाँ वह केवल प्रतिनिधित्व की राजनीति न रहकर, समान अवसर, गरिमा और जीवन की बुनियादी सुविधाओं की व्यापक परियोजना बने।

प्रतिनिधित्व इसका एक केन्द्रीय आयाम है। यह केवल संख्या का प्रश्न नहीं, बल्कि निर्णय-प्रक्रिया में विविध अनुभवों की भागीदारी का विषय है। इसी सन्दर्भ में आरक्षण को समझना आवश्यक है। इसे 'रियायत' के रूप में देखना एक गम्भीर भूल है; यह ऐतिहासिक अन्याय की आंशिक भरपायी का संवैधानिक माध्यम है। फिर भी, आरक्षण की बहस कई बार 'मेरिट बनाम आरक्षण' के सरलीकृत द्वन्द्व में उलझ जाती है। जबकि यह समझना जरूरी है कि योग्यता शून्य में विकसित नहीं होती। सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि, संसाधनों तक पहुँच और शैक्षिक अवसर—ये सभी 'मेरिट' को आकार देते हैं। ऐसे में केवल अंकों के आधार पर क्षमता का आकलन करना अधूरा दृष्टिकोण है। साथ ही यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है कि शिक्षा, चिकित्सा, रक्षा और इंजीनियरिंग जैसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में गुणवत्ता और दक्षता से कोई समझौता न हो। समाधान आरक्षण को समाप्त करना नहीं, बल्कि उसे अधिक प्रभावी, पारदर्शी और लक्षित बनाना है, ताकि उसका लाभ वास्तव में जरूरतमन्दों तक पहुँचे।

समकालीन समय में असमानता के नये रूप भी उभर रहे हैं—आर्थिक विषमता, शिक्षा और स्वास्थ्य का बाजारीकरण, तथा डिजिटल विभाजन। ये सभी सामाजिक न्याय की चुनौती को और जटिल बनाते हैं। ऐसे समय में यह समझना आवश्यक है कि सामाजिक न्याय और विकास परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं। बिना न्याय के विकास असमानता को और गहरा करता है। इसलिए यह प्रश्न अनिवार्य है—विकास किसके लिए और किस कीमत पर? यदि इसके लाभ सीमित वर्ग तक सिमट जाएँ, तो वह विकास नहीं, बल्कि असन्तुलन और विषमता का विस्तार है।

सामाजिक न्याय कोई स्थिर उपलब्धि नहीं, बल्कि एक सतत प्रक्रिया है—एक ऐसा संघर्ष जिसे हर पीढ़ी को अपने समय के अनुसार पुनर्परिभाषित करना होता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम कबीर की निर्भीकता, तुलसीदास की मर्यादा, महात्मा गाँधी की नैतिकता, भीमराव अम्बेडकर की संरचनात्मक दृष्टि, राममनोहर लोहिया की बहुआयामी समझ और जयप्रकाश नारायण की जनभागीदारी व नैतिक राजनीतिक चेतना—इन सभी को एक साथ लेकर आगे बढ़ें। तभी यह विचार न तो केवल नारा रहेगा, न सत्ता का औजार, बल्कि एक जीवन्त सामाजिक यथार्थ बन सकेगा।

यहीं से यह विमर्श केवल बौद्धिक बहस का विषय नहीं रह जाता, बल्कि एक नैतिक आग्रह और ऐतिहासिक जिम्मेदारी में रूपान्तरित हो जाता है। सामाजिक न्याय की लड़ाई दरअसल समाज को अधिक मानवीय, अधिक समतामूलक और अधिक लोकतान्त्रिक बनाने की प्रक्रिया है। यदि इसे केवल नीतियों, चुनावों या आरक्षण की सीमित बहसों में बाँध दिया गया, तो इसका मूल उद्देश्य धुँधला पड़ जाएगा। आवश्यकता इस बात की है कि इसे उसके व्यापक मानवीय अर्थ में पुनः स्थापित किया जाए—जहाँ न्याय केवल अवसर का नहीं, बल्कि गरिमा और सम्मान के साथ जीवन जीने के अधिकार का पर्याय बने। तभी भारतीय लोकतन्त्र अपने वास्तविक अर्थ में परिपक्व और सार्थक हो सकेगा।

इस व्यापक परिप्रेक्ष्य में सामाजिक न्याय को पुनःपरिभाषित करने की आवश्यकता केवल बौद्धिक अभ्यास नहीं, बल्कि लोकतान्त्रिक अस्तित्व की अनिवार्यता है। यह पुनर्विचार हमें यह समझने का अवसर देता है कि न्याय की अवधारणा को केवल ऐतिहासिक अन्याय की भरपायी तक सीमित नहीं रखा जा सकता, बल्कि उसे भविष्य की समानता और गरिमा की सुनिश्चितता से भी जोड़ना होगा। सामाजिक न्याय का अर्थ तब ही पूर्ण होगा जब वह व्यक्ति की क्षमताओं के विकास, उसके आत्मसम्मान की रक्षा और समाज में उसकी सक्रिय भागीदारी के अवसरों को सुनिश्चित करे। यह कार्य केवल राज्य या नीतियों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता; इसके लिए समाज के भीतर भी एक व्यापक नैतिक चेतना और संवेदनशीलता का विकास आवश्यक है। अन्ततः, सामाजिक न्याय वही है जो समाज को भीतर से अधिक न्यायपूर्ण, अधिक मानवीय और अधिक उत्तरदायी बनाता है।

किशन कालजयी